

# कार्बन डाईऑक्साइड, जलवायु परिवर्तन

## और जिओइंजीनियरिंग

पी. बालाराम

**का**र्बन डाईऑक्साइड (CO<sub>2</sub>) बहुत ही साधारण अणु है जिसके बारे में रसायन शास्त्र के प्रारंभिक पाठ्यक्रमों में जानकारी दी जाती है। शिक्षक इसे एक ऐसे उदाहरण के रूप में पढ़ाते हैं जिसके तीनों परमाणु एक ही सीधी रेखा में होते हैं जिसे लिनियर या रेखीय अणु कहा जाता है। यह पानी (H<sub>2</sub>O) जैसे उन सामान्य त्रिपरमाण्विक अणुओं से अलग है जिनमें परमाणु एक-दूसरे से झुकी हुई अवस्था में रहते हैं।

जैव-रसायन शास्त्र (बायोकेमिस्ट्री) में CO<sub>2</sub> को प्राणियों की श्वसन प्रक्रिया के दौरान उत्पन्न एक ऐसा उत्पाद माना जाता है जो पौधों की प्रकाश संश्लेषण क्रिया के लिए बेहद ज़रूरी होता है। इस प्रक्रिया में CO<sub>2</sub> पानी के साथ जुड़कर ग्लूकोज़ में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार प्राणी और पौधे अपने अस्तित्व के लिए एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

भू-विज्ञान में भी पानी में लाइमस्टोन व कार्बोनेट्स के अध्ययन के ज़रिए CO<sub>2</sub> की उपस्थिति दर्ज होती है। एक वर्णक्रम विशेषज्ञ के लिए CO<sub>2</sub> का मतलब है अवरक्त विकिरण (इन्फ्रारेड रेडिएशन) को अवशोषित करने वाला पदार्थ।

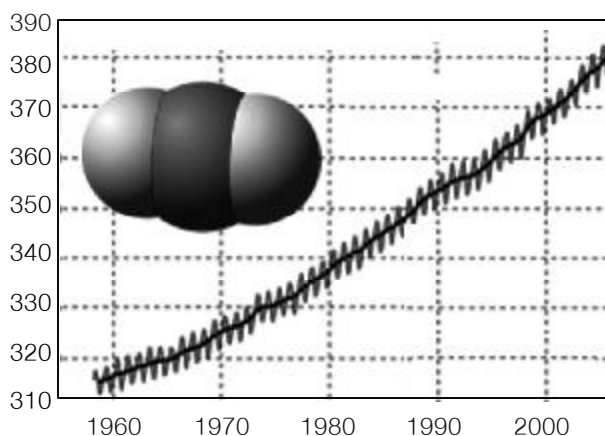
मैंने वैज्ञानिक के रूप में अपने कैरियर में अक्सर देखा है कि कार्बन डाईऑक्साइड का ज़िक्र आण्विक आकारों, प्रकाश संश्लेषण क्रिया और वर्णक्रम अध्ययन इत्यादि से सम्बंधित विज्ञान चर्चाओं में होता है, लेकिन यह कभी न सोचा था कि यह अणु एक दिन दुनिया के राजनीतिक व आर्थिक विचार-विमर्श के केंद्र में आ जाएगा।

आज दुनिया में बढ़ते वैश्विक तापमान और जलवायु परिवर्तन के लिए इसे ही ज़िम्मेदार ठहराया जा रहा है। दरअसल, मानव की प्रत्येक गतिविधि के लिए जीवाश्म ईंधन ज़रूरी बन गया है। जीवाश्म ईंधन के जलने की क्रिया में कार्बनिक कार्बन ही CO<sub>2</sub> में बदलता है जिससे वातावरण

में इसका स्तर लगातार बढ़ता जा रहा है। रही-सही कसर तेज़ी से घटते जंगलों ने पूरी कर दी है। जंगलों को CO<sub>2</sub> का प्राकृतिक अवशोषक माना जाता है, लेकिन उनके कम होते जाने से वातावरण में CO<sub>2</sub> का अवशोषण भी कम हो चला है। CO<sub>2</sub> में बढ़ोतरी से धरती से निकलने वाली गर्मी वातावरण से बाहर नहीं जा पा रही है। इसी का नतीजा है ग्लोबल वार्मिंग या वैश्विक गर्माहट। ये दो शब्द आज हर व्यक्ति की जुबान पर रहते हैं। जैसे-जैसे धरती का वातावरण गर्म होगा, वैसे-वैसे ग्लेशियर और ध्रुवीय प्रदेशों की बर्फ पिघलेगी। ज़ाहिर है कि महासागरों व नदियों में जल स्तर भी बढ़ेगा और निचले इलाके जलमग्न हो जाएंगे। इसका सबसे ज़्यादा असर गरीब देशों की जनता पर पड़ेगा।

ग्लोबल वार्मिंग के अलावा शिक्षित लोगों के शब्दकोष में एक और शब्द जुड़ चुका है - 'क्लाइमेट चेंज' यानी जलवायु परिवर्तन। हॉलीवुड फिल्मों में भी अब परमाणु युद्ध से होने वाली बर्बादी के काल्पनिक दृश्यों की बजाय नव-हिमयुग में फंसे महानगरों के दृश्य दिखाए जाने लगे हैं। देखा जाए तो ग्लोबल वार्मिंग के नाम पर एक पूरा उद्योग ही खड़ा हो गया है।

इस मुद्दे पर लुभावनी जगहों पर अंतर्राष्ट्रीय सेमीनार आयोजित किए जाने लगे हैं, कुछ देशों द्वारा संधियां या समझौते प्रस्तावित किए जाते हैं तो कुछ उनका विरोध करते हैं। नोबल पुरस्कार भी उन्हें दिए जाने लगे हैं जो बढ़ते वैश्विक तापमान के खिलाफ लोगों को आगाह करते दिखाई पड़ते हैं। साथ ही जिओ इंजीनियरिंग (भू-यांत्रिकी) नामक एक नए विषय का भी प्रादुर्भाव हो रहा है। इस प्रकार आज हम शब्दकोष में ग्लोबल वार्मिंग, क्लाइमेट चेंज, जिओ इंजीनियरिंग, कार्बन ट्रेडिंग, कार्बन फुटप्रिंट्स इत्यादि के रूप में नए शब्द देख रहे हैं। इन सभी का उद्भव रसायन शास्त्र और जीव विज्ञान में पाए जाने वाले CO<sub>2</sub> में देखा जा



सकता है।

जलवायु परिवर्तन पर होने वाले प्रत्येक व्याख्यान में वह प्रसिद्ध ग्राफ ज़रूर दिखाया जाता है जिसमें बताया जाता है कि कैसे समय के साथ वातावरण में CO<sub>2</sub> की मात्रा बढ़ती गई है। इसमें 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध में CO<sub>2</sub> की मात्रा का माप बताया जाता है। सवाल यह उठता है कि आखिर उस दौर में CO<sub>2</sub> को इतने सटीक ढंग से नापने की ज़रूरत क्यों पड़ गई थी जब 'न्यूक्लियर विंटर' जैसी शब्दावली प्रचलन में थी और 'ग्लोबल वार्मिंग' जैसे शब्दों का उदय भी नहीं हुआ था?

हवा में CO<sub>2</sub> की मात्रा को सबसे पहले 1950 के दशक के मध्य में एक शोध छात्र चार्ल्स कीलिंग ने मापा था। कीलिंग का निधन 2005 में हुआ। कीलिंग ने 'पृथ्वी की निगरानी का इनाम व दंड' नामक बेहद पठनीय आलेख में बताया है कि इस विषय में उनकी रुचि उनके गुरु हैरिसन ब्राउन के इस मत से पैदा हुई थी कि भू-विज्ञान में रासायनिक सिद्धांतों को लागू करना उपयोगी होगा। बकौल कीलिंग, "उन्होंने सुझाया था कि सतही जल और सतह के निकट भूमिगत जल में कार्बोनेट की मात्रा का अनुमान इस आधार पर लगाया जा सकता है कि पानी लाइमस्टोन और वातावरण की कार्बन डाईऑक्साइड के साथ एक संतुलन में रहता है।" कीलिंग ने रसायन शास्त्र और भू-विज्ञान को जोड़ने वाली एक परियोजना पर कार्य किया जो उनके लिए 'लाइफटाइम' कार्य साबित हुआ।

हवा में CO<sub>2</sub> की सांद्रता को नापने वाला उपकरण बनाने के प्रयास का विवरण देते हुए कीलिंग उस युग की

यादें ताज़ा करा देते हैं जिसमें सफल प्रयोगों की डिज़ाइन अक्सर बहुत ही साधारण हुआ करती थीं। अपने प्रयोग के लिए कीलिंग ने वर्ष 1916 की एक डिज़ाइन पर आधारित गैस मैनोमीटर और पांच लीटर की क्षमता वाले दर्जन भर कांच के फ्लास्क का इस्तेमाल किया था। प्रत्येक फ्लास्क को उन्होंने स्टॉप कॉक से बंद कर रखा था ताकि उनमें अच्छा निर्वात बन सके। कीलिंग जल्दी ही इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि पसाडीना में CO<sub>2</sub> की सांद्रता लगातार परिवर्तनशील थी और इसका कारण मानवीय गतिविधियां थीं।

इसके बाद कीलिंग ने प्रशांत महासागर के पास अप्रदूषित हवा के नमूने एकत्र करने के लिए कैलिफोर्निया के बिग सुर की यात्रा की। इसके लिए उन्होंने नमूना-चयन की व्यापक रणनीति विकसित की। दशकों बाद कीलिंग ने स्वीकार किया कि उनकी इस रणनीति की संभवतः कोई ज़रूरत ही नहीं थी। तो फिर उन्होंने ऐसा क्यों किया? कीलिंग ने इसका बहुत ही मज़ेदार जवाब दिया है: "मैंने ऐसा इसलिए किया क्योंकि मुझे उसमें मज़ा आ रहा था। उपकरणों की डिज़ाइन बनाने व उन्हें असेंबल करना मुझे अच्छा लग रहा था। मुझ पर अत्यंत कम समय में कोई नतीजा पेश करने का दबाव नहीं था और न ही मुझे परमाणु ऊर्जा आयोग के समक्ष अपनी गतिविधियों को उचित ठहराने की ज़रूरत थी।"

कीलिंग की इस बात से मैं चकित हूँ कि जो प्रयोग उन्होंने केवल मज़े की खातिर किए थे, जलवायु परिवर्तन पर आज हो रहीं व्यापक चर्चाएं उनके उन्हीं प्रयोगों के नतीजों पर आधारित हैं। कीलिंग कहते हैं कि यहां कुछ संशयवादी ऐसे भी हैं जिन्हें इस बात पर यकीन ही नहीं है कि दुनिया में ग्लोबल वार्मिंग नामक कोई समस्या भी है, वहीं कुछ लोगों को इसमें संदेह है कि वातावरण में CO<sub>2</sub> की मात्रा में बढ़ोतरी हो रही है।

वैसे अब इस बात में कोई दो राय नहीं है कि कीलिंग और अन्य ने हवा में CO<sub>2</sub> की मात्रा को मापने के लिए जिस प्रणाली का विकास किया था, वह बिल्कुल ठोस धरातल पर विकसित की गई थी। आज इस बात पर सहमति बनती जा रही है कि जलवायु परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हो चुकी

है और इसलिए जीवाश्म ईंधन के उपयोग को सीमित करने की गंभीर रणनीति बनाने की ज़रूरत है ताकि CO<sub>2</sub> के उत्सर्जन को कम किया जा सके। यही वह क्षेत्र है जहां सार्वजनिक नीति पर चर्चा करते समय विज्ञान का प्रत्यक्ष प्रभाव नज़र आता है।

जलवायु परिवर्तन को लेकर चल रही बहस ने लेखकों व फिल्मकारों को भी आकर्षित किया है। माइकल क्रिकटन ने अपनी पुस्तक 'स्टेट ऑफ फीयर' में जलवायु विज्ञान से सम्बंधित शोध कार्यों और उनमें संलग्न वैज्ञानिकों को जमकर आड़े हाथों लिया है। 'जुरासिक पार्क' के विपरीत यह किताब हमें कल्पना लोक में नहीं ले जाती है। वहीं, जलवायु परिवर्तन की भयावहता पर ही 'एन इंकन्वीनियेंट ट्रूथ' नामक फिल्म बनाई गई है जिसमें अमेरिका के पूर्व उपराष्ट्रपति अल गोर ने भी भूमिका निभाई है। इसमें वे जलवायु परिवर्तन को काबू में करने की ज़रूरत पर भाषण देते हुए दिखाई देते हैं। फ्रीमैन डायसन न्यूयार्क रिव्यू ऑफ बुक्स में जलवायु परिवर्तन पर अपनी समीक्षा में दो पुस्तकों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं जो वैश्विक नीति और अर्थव्यवस्था जैसे मुद्दों पर केंद्रित हैं। अपनी समीक्षा के अंत में डायसन लिखते हैं, "पूरा मुद्दा वैज्ञानिक नहीं होकर धार्मिक है। दुनिया भर में एक ही धर्मनिरपेक्ष धर्म है जिसे हम पर्यावरणवाद कह सकते हैं। इस पर्यावरणवाद के नियम-कायदे दुनिया भर में बच्चों को किंडरगार्टन से लेकर कॉलेजों तक में सिखाए जा रहे हैं। अब तक एक धर्मनिरपेक्ष वाद के रूप में समाजवाद ही सबसे आगे था, लेकिन पर्यावरणवाद ने उसे भी पीछे कर दिया है। पर्यावरणवाद के सिद्धांत मूलतः बेहद ठोस हैं। पर्यावरणवाद ही ऐसा धर्म है जो प्रकृति का सम्मान करना सिखाता है, यह उम्मीदों का धर्म है और इसी में टिके रहने की संभावना है। ग्लोबल वार्मिंग को हम खतरनाक मानें या न मानें, इस धर्म में हम सबकी भागीदारी ज़रूर है।"

तो क्या वैश्विक तापमान और जलवायु परिवर्तन को और भी तकनीकी शब्दों में बांधने का समय आ गया है? वैज्ञानिक बिरादरी में एक नए शब्द 'जिओ इंजीनियरिंग' का बड़ी तेज़ी के साथ प्रादुर्भाव होता जा रहा है। इसके तहत यह विचार किया जा रहा है कि क्यों न ऐसी किसी

तकनीक का विकास किया जाए जिससे धरती तक पहुंचने वाले सौर विकिरण में ही कमी कर दी जाए। नोबेल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक पॉल कर्टज़न द्वारा 2006 में इस सम्बंध में लिखे गए आलेख के बाद तो इस सुझाव की ओर बड़ी तेज़ी से ध्यान गया है। कर्टज़न ने 'स्ट्रेटोस्फेरिक सल्फर इंजेक्शन' का सुझाव दिया है। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसमें वातावरण की ऊपरी परत में सल्फर डाइऑक्साइड को खुला छोड़ दिया जाता है और फिर वह एक बड़ी मात्रा में माइक्रोमीटर से छोटे आकार के सल्फेट के कणों में परिवर्तित हो जाती है। वातावरण में बिखरे सल्फेट के ये कण सौर विकिरण को फिर से अंतरिक्ष की ओर मोड़ देते हैं। इस तरह के कई अन्य सुझाव दिए गए हैं।

पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध जीवाश्म ईंधन ऊर्जा का, बगैर किसी दुष्प्रभाव के, लाभ उठाने की चाहत ने जिओ इंजीनियरिंग को कम्प्यूटर सिम्युलेशंस के लिए बेहद उर्वर क्षेत्र बना दिया है। जिओ इंजीनियरिंग क्षेत्र पर लिखे गए एक आलेख 'जलवायु परिवर्तन: क्या इसी से दुनिया बचेगी?' में ओ. मॉर्टन द्वारा एक बहुत ही दिलचस्प विचार पेश किया गया है, "मानव ने दिखाया है कि मात्र ज़िंदगी जीने के प्रयास में वह किस हद तक गुड़ गोबर कर सकता है। लेकिन यह इंजीनियरिंग नहीं है। इंजीनियरिंग में एक लक्ष्य होता है।"

राष्ट्र संघ विकास कार्यक्रम ने 'जलवायु परिवर्तन से सामना: अविभाजित विश्व में मानव एकता' नाम से एक रिपोर्ट तैयार की है। इसके 'खतरनाक जलवायु परिवर्तन से बचाव: असर को कम करने की रणनीति' नामक अध्याय की शुरुआत गांधीजी के एक उद्धरण से की गई है - "अगर आप गलत दिशा में जा रहे हैं तो रफ्तार बेमानी हो जाती है।" जलवायु परिवर्तन और उससे जुड़े विज्ञान के बारे में पढ़ते हुए मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि कीलिंग से शुरुआत करके हमने कितनी लंबी दूरी तय कर ली है। हम आज उस दुनिया में पहुंच चुके हैं जहां अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ अंतर्राष्ट्रीय सम्बंधों में कार्बन डाइऑक्साइड का इस्तेमाल एक नई वित्तीय मुद्रा के रूप में कर सकते हैं।

(स्रोत फीचर्स)